

भूमण्डलीकरण से राष्ट्रीयकरण:

Sajitha J

Assistant Professor, Department of Hindi, Nehru Arts and Science College, TM Palayam, Coimbatore, Tamil Nadu, India

प्रस्तावना

"भूमण्डलीकरण की बात शुरू की जाए तो सबसे पहले हम भाषा का ही सवाल ले लें - अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं का अंतरसंबंध। जब मैकॉले ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत की थी, तब भूमण्डलीकरण का सवाल नहीं था। अंग्रेजी सत्ता हमें विश्व-नागरिक बनाने के लिए अंग्रेजी नहीं पढ़ा रही थी। उपनिवेशवादी दौर में उन्हें अपने लिए अंग्रेजी पढ़े-लिखे कारकून चाहिए थे। इंग्लिस्तान के विधि-विधान और कानून को देश में लागू करने के लिए न्यायाधीश और वकील चाहिए थे। भारत में वकीलों का तबका ही पहला अंग्रेजी पढ़ा-लिखा तबका था। तब की अंग्रेजी शिक्षा और आज की अंग्रेजी शिक्षा में अंतर है। आज भारत की अंग्रेजी हमें अपने ही देश में व्यक्तित्वहीन बनाती है और साथ ही हमें विश्व-बाजार में विश्व-नागरिक बनाती है। भूमण्डलीकरण की स्पर्धा में यह हमारी सहायक भी है।

लेकिन भूमण्डलीकरण से अलग जब राष्ट्रीयकरण का सवाल आता है तो अंग्रेजी के कारण हमारा संपर्क और संबंध अपने ही देश के दलित, शोषित और अशिक्षित वर्ग से टूट जाता है, इतना ही नहीं सभी भारतीय भाषाओं में हमारी सोच का प्राकृतिक प्रवाह बाधित होता है।कहे-अनकहे तरीके से, यहीं से हमारा सांस्कृतिक संकट शुरू होता है। हम विभाजित व्यक्ति बन जाते हैं। खुद अपने सांस्कारिक स्रोतों, आस्था के प्रतीकों, अपने आस-पास की संवेदनाजन्य ध्वनियों और अपने जन-सामान्य से कट जाते हैं। सच्चाई यही है कि वैश्विक बाजार की पूरी परिकल्पना उस अमीर को लेकर की गई है जो साधन-सम्पन्न है। उसे ही इस बाजार में 'मानव' होने का दर्जा दिया गया है। उसी के अधिकार मानवाधिकार हैं। मानव मूल्य अब गौण हो गए हैं।

इस बाजारवाद का गरीब देशों और उसके गरीब से कोई लेना-देना नहीं है। सही अर्थों और संदर्भों में यदि इस बाजारवाद और वैश्वीकरण को देखा जाय तो यह पूंजीवादी देशों के अमीरों की क्रांति है। जब इसका अपने ही देशों के गरीबों से कुछ लेना-देना नहीं है, तो हम जैसे गरीब देशों से उसका क्या सरोकार हो सकता है ?

लेकिन सरोकार है ! उसका सरोकार है हमारे बाजार से। हमारा वह बाजार जो गरीबों ने अपने पुश्तैनी धंधों और श्रम से तैयार किया है। पुश्तैनी धंधों और खेतीबाड़ी के सहारे हमारा स्वदेशी बाजार निर्मित हुआ। जन्मना भारतीय होते हुए भी यह कर्मणा भारतीय नहीं है। हमारी क्षमा, दया और करुणा के आयाम परिवर्तित हुए हैं। भूमण्डलीकरण लगातार हमारी संस्कृति को विकृत करता जा रहा है। हमारे सदियों पुराने मानवीय सरोकारों आज विदेशी खाद्य तेलों ने एक झटके में अपने पैर उत्तर भारत के बाजारों में जमा लिए हैं। आप कहेंगे कि यह तो बाजारी व्यवसाय का मामला है, इससे संस्कृति का क्या लेना-देना है ? इसका संस्कृति से बहुत गहरा लेना-देना है। मैं आपको बताता हूँ- भारत में ही नहीं, पाकिस्तान में भी और खासतौर से उत्तर भारत में वसंत पंचमी का त्यौहार बहुत धूमधाम से मनाया जाता है। यह वह समय है जब मकर संक्रांति के दिन सूर्य उत्तरायण होता है। कड़ाके की सर्दी के मौसम से पूरा उत्तर भारत

धीरे-धीरे मुक्त होकर वसंत ऋतु की ओर बढ़ता है। यही वह समय होता है जब उत्तर भारत के सारे खेत सरसों के पीले फूलों का लहराता समुद्र बन जाते हैं। वसंत पंचमी का दिन ही विद्या, ज्ञान और साहित्य की देवी सरस्वती की पूजा का दिन होता है.....साहित्योत्सव का दिन !

लेकिन सबसे सरसों के खुले तेल पर पाबंदी लगी है तबसे किसान ने सरसों उगाना लगभग बंद कर दिया है। यह कहना तो गलत होगा कि उत्तर भारत में अब सरसों नहीं उगती, पर आपको यह बताना गलत नहीं होगा कि उत्तर भारत की सभी भाषाओं में जो वसंत के गीत लिखे जाते थे, वे अब नहीं लिखे जाते।गांव के करघों पर जो सूती कपड़ा बनता था, उसके कुर्ते पीले रंग में रंगकर वसंत के दिन पहने जाते थे। यहां तक कि मध्यवर्गीय कुलीन भी कम से कम अपना रुमाल पीले रंग में रंग लेते थे। लेकिन अब बाजारवाद के चलते सिंथेटिक कपड़ों पर कोई देशी रंग नहीं चढ़ता। कृषि प्रधान भारत में अब बच्चे सरसों के खेत देखते हैं तो खुश तो बहुत होते हैं, पर यह भी पूछते हैं कि इतने सुंदर खेत किस चीज के हैं ? वसंत पर सरस्वती पूजा और लेखनी की पूजा की परिपाटी तो अब भी निभाई जाती है, पर साहित्य, ग्रामीण सभ्यता, प्रकृति के साथ जो उत्सवधर्मी तादात्म्य था, वह अब खंडित हो चुका है। यही संस्कृति की क्षति है।

उत्तर भारत की तमाम भाषाओं की कविता में संदर्भ बिन्दु बदल गए हैं। अब आप आज की कविता को देशज, क्षेत्रीय और भारत के प्राकृतिक संदर्भों और पुरातन प्रतीकों से नहीं समझ सकते। देशज संदर्भ और बिम्ब अब कविता में नहीं हैं। अब हम उन्हें उन देशों के कवियों की कविता के संदर्भों से ही समझ सकते हैं जो भूमण्डलीकरण वाले देशों के कवि हैं या वे आज के कवि जो भूमण्डलीकरण की अवधारणा को समर्थन देते और विकसित करते हैं।

हम अपने बादलों, मौसमों, बिम्बों, रंगों, हवाओं, प्रतीकों, छवियों, दृश्यों, भावनाओं, मूल्यों, देशज अनुभवों और प्रश्नों से इतने कट गए हैं कि वे हमें संवेदित और उद्वेलित नहीं करते। वे हमारी आस्था और सौन्दर्य को उत्प्रेरित नहीं करते। भूमण्डलीकरण ने हमें अपने निजी और आंतरिक सौंदर्य से विकेंद्रित किया है। हमें हमारी सर्जनात्मक अंतश्चेतना से विस्थापित किया है।.... हम खुद वह नहीं रह गए हैं जो हमें होना चाहिए था। हम खुद को सिर्फ शीशे में पहचान पाते हैं या गोष्ठियों-सेमिनारों में। हम खुद को अपनी परिपुष्ट परम्परा के प्रवाह में न तो देख पाते हैं, न पहचान पाते हैं। भूमण्डलीकरण ने यही त्रासदी हमें दी है। आप खुद ही अपने दिल पर हाथ रखकर बताइए कि आप अपने घर-परिवार, सामुदायिक, जातीय या राष्ट्रीय किस उत्सव में अंदर तक डूबकर, तन्मय होकर शामिल हुए हैं ? कभी आपने सोचा है कि ऐसा क्यों हो रहा है ? क्यों हमने अपनी परम्परा और विरासत की संचित स्मृतियों को त्याग रखा है ? क्यों हम अपनी संवेदनाओं को लेकर कृपण हो गए हैं ? बाजारवाद की गलाकाट स्पर्धा और मुनाफे की हत्यारी संस्कृति हमें यही दे सकती है। भारत के उन गांवों को देखिए जहां अभी पेयजल नहीं पहुंचा है, वहां भी बहुराष्ट्रीय निजी कम्पनियों का कोक और पेप्सी पहुंच चुका है। सच

पूछिए तो हम संस्कृति के रेगिस्तान में नहीं, बल्कि श्मशान में रह रहे हैं। हम एक बंजर होती हुई संस्कृति का यशोगान कर रहे हैं।

इन हालात के लिए दोषी हम ही हैं। हमने अपनी आधुनिक क्रांतिकारिता के चलते खुद अपने उस धर्माश्रित सहिष्णु अतीत का निरादर किया, जो जनसामान्य और लोकजीवन की गहरी और सनातन स्मृति का हिस्सा था। भूमण्डलवादियों और इन देशज अप-संस्कृतिवादियों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। उन्हें मुनाफा चाहिए, इन्हें सत्ता चाहिए।

पूरी दुनिया के आर्थिक नक्शे पर देखिए- वे शक्तियां जो औद्योगिक क्रान्ति के बाद औपनिवेशिक शक्तियों के रूप में स्थापित हुई थीं, उन्होंने योजनापूर्वक स्वावलम्बी, स्वदेशी अर्थ-व्यवस्थाओं का विनाश किया, मात्र अपने उत्पादों को बाजार उपलब्ध कराने के लिए। आज विचार के क्षेत्र में भी यही हो रहा है। बाजारवादी शक्तियां स्थानीय अप-संस्कृतिवादियों को बढ़ावा दे रहीं हैं।

सोलहवीं सदी से पहले ही भगवान कृष्ण हमारे एक हिन्दू अवतारी ईश्वर के रूप में स्थापित और पूजित थे। तुलसीदास की रामायण से पहले भगवान राम अवतारी ईश्वर के रूप में स्वीकृत नहीं थे।

सोलहवीं सदी के मध्य तक उत्तर भारत में राधाकृष्ण के मंदिरों की स्थापना और पूजा तो इतिहास सम्मत है, परंतु राम के अवतारी ईश्वर होने और उनके मंदिरों की स्थापना का कोई साक्ष्य इतिहास और पुरातत्व के पास मौजूद नहीं है। यदि आक्रांता बाबर हिन्दू धर्म को नष्ट करने आया होता तो वह अपनी राजधानी आगरा से पचास किलोमीटर दूर भगवान कृष्ण की जन्मस्थली तोड़ता। पर अप-संस्कृतिवादियों ने यह इतिहास ईजाद किया है कि बाबर ने राम जन्मस्थान के मंदिर को तोड़कर वहां अयोध्या में मस्जिद का निर्माण करवाया था। बाबर आगरा से चलकर मथुरा में भगवान कृष्ण की जन्मस्थली तोड़ने नहीं गया, पर 800 किलोमीटर चलकर उसने अयोध्या स्थित राम के जन्मस्थान मंदिर को तोड़ा, जो उसके समय तक अवतार के रूप में स्वीकृत नहीं हुए थे।

भारत में भूमण्डलीकरण का जो भूचाल आया है, वह 'कल्याणकारी पूंजीवाद' तो नहीं ही है। मुमकिन है कि विकसित पूंजीवादी देशों में वह कोई कल्याणकारी शक्ति रखता हो, पर विकासशील देशों में वह शोषक की शक्ति में ही आया है। वह कल्याणकारी नहीं, विनाशकारी है....

उन्हीं के 'लोक कल्याण' को आज मानव हितैषी और कल्याणकारी पूंजीवाद का नाम दिया जा रहा है ऐसा कहना अमर्त्यसेन जैसे प्रगतिशील विचारक की मजबूरी भी है, क्योंकि बाजारवादी भूमण्डलीकरण ने और कोई रास्ता छोड़ा भी नहीं है। आणविक अस्त्रों, प्रयोगशालाओं, अर्थव्यवस्था, सैनिक तंत्र, वैज्ञानिक शोध, संचार-साधनों आदि सभी पर उनका भूमण्डलीकृत एकाधिकार है। ऐसे में वैचारिक संघर्ष का एक ही रास्ता बचता है जिसे अमर्त्यसेन ने ईजाद किया है।

जानना यह ज़रूरी है कि इस बाजारवाद का जीवन दर्शन है- निर्लज्ज उपभोक्तावाद ! इसके लिए वह आज के तीव्रगामी सूचनातंत्र का सहारा लेता है। वह दस सेकंड में यह बताता है कि कोई वाशिंग मशीन आपके लिए कितनी उपयोगी है। और यहीं, अनकहे तरीके से वह हमारी समाज-रचना के उस धागे को तोड़ देता है जो हमारे समाज में हमें परस्पर पूरक बनाता है। अपने एक समकालीन अग्रज समाजशास्त्री सिद्धराजजी ढड्डा के हवाले से कहूं तो वाशिंग मशीन के बारे में सोचते ही हमारा रिश्ता घर के धोबी से टूटने लगता है। इसी तरह उपभोक्ता संस्कृति में नई चीजों की भूख पैदा की जाती है, फिर चाहे वे चीजें जीवन के लिए ज़रूरी हों या न हों।

व्यापार का पुराना नियम था- मांग के अनुसार पूर्ति। वैश्विक बाजारवाद ने यह नियम एकदम बदल दिया है। अब पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली अपना उत्पादन इस नज़रिये से करती है कि किस चीज को बनाकर अधिकतम मुनाफा बटोरा जा सकता है। फिर वह उद्योगपति अपने प्रोडक्ट की मांग पैदा करता है। ज़रूरत न हो, तो भी मध्यवर्ग उस प्रोडक्ट को खरीदने लगता है। फिर उसे लगने लगता है कि वह प्रोडक्ट उसके कुलीन व्यक्तित्व का ज़रूरी हिस्सा बन गया है।

इस उपभोक्तावादी उत्पादन और भोगवादी बाजारवाद से हमारे साहित्य और संस्कृति के संवेग और संवेदना के संयंत्र खण्डित हुए हैं, जिनके सहारे भारत का परिवर्तनकामी मनुष्य अब तक अपनी संस्कृति के उग्र धर्मवादी तत्वों और रूढ़ हो गए पौराणिक विचारों से लड़ता रहा है। इस बनते और विकसित होते लोकतंत्र में वह दूसरे स्तर पर भी संघर्ष में शामिल है। हां, ग्लोबलाइजेशन का हम स्वागत करते हैं, यदि वह विचार, सूचना, विज्ञान के क्षेत्र में हो। क्षमा, करुणा, दया अहिंसा, संवेदना, मैत्री और शान्ति के पक्ष में हो। वह कम्प्यूटीटिव न होकर पूरक (कम्प्लीमेंट्री) हो ! लेकिन हो उल्टा रहा है। स्वर्ग का सपना देखते-देखते हम नरक में पहुंच गए हैं।

संदर्भ सूची:

1. भूमंडलीकरण: साहित्य और संस्कृति - श्री कमलेश्वर
2. सामाजिक विश्लेषक - प्रभु जोशी
3. पीढ़ी से संवाद की ज़रूरत - पुरुषोत्तम अग्रवाल
4. अलका सरावगी - भारत में भूमण्डलीकरण
5. समाजशास्त्री सिद्धराज - पूरनचंद जोशी